

## भारतीय लोक कला विमर्श

डॉ० महेश कुमार  
एसो०प्रो० चित्रकला विभाग,  
जे०वी० जैन कॉलेज, सहारनपुर।

हमारे सामाजिक जीवन में विभिन्न पारिवारिक व सामाजिक आयोजनों अथवा अवसरों पर व तीज-त्यौहारों पर कुछ ऐसे आवश्यक संस्कार, रीति-रिवाज और अनुष्ठान किये जाते हैं, जो जीवन की भावनात्मक सुन्दरता, आनन्द और ताजगी को बढ़ा देते हैं, जैसे जन्मोत्सव, विवाहोत्सव पर गाये जाने वाले मंगलगीत, पूजा-पाठ, सजावट इत्यादि। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि भारतवर्ष में बच्चे के जन्म से लेकर व्यक्ति की मृत्यु के बाद तक इस प्रकार के संस्कारों, अनुष्ठानों व पूजा-पाठ का बहुत महत्व है और जीवन में यह पावनी गंगधारा सभ्यता के प्रथम उदय से आज तक अनवरत चली आ रही है। इन्हीं संस्कारों और मंगल अनुष्ठानों में कुछ ऐसे हैं जो लोक कलाओं की श्रेणी में रखे गये हैं, जैसे क्षेत्रीय भाषाओं में गाये जाने वाले मंगलगीत, पूजा-पाठ अथवा सजावट हेतु बनाये जाने वाले विभिन्न अभिप्राय, मिट्टी के पात्र, खिलौने, मूर्तियाँ, विभिन्न सामग्री से तैयार किये जाने वाले विभिन्न कलात्मक सजावटी व उपयोगी वस्तुएँ इत्यादि। मेले-दशहरे व अन्य अवसरों पर रासलीला, रामलीला, स्वांग, क्षेत्रीय नृत्य आदि भी लोक कलाओं की श्रेणी में आते हैं। लोक कलाओं के सांस्कृतिक महत्व को उजागर करते हुए डॉ० भयाम बिहारी अग्रवाल लिखते हैं- “इसमें कोई भाक नहीं है कि लोक कला संस्कृति और सभ्यता की जीती जागती धरोहर होती है। हमारे देश में लोक कला प्रचुर मात्रा में पायी जाती है जबकि पश्चिम के अनेक विकसित देशों में लोक कला लगभग समाप्त हो चुकी है और उसके स्थान पर आधुनिक कला का बोलबाला हो गया है।”<sup>1</sup>

लोक कलाओं में आहरी जीवन की अपेक्षा लोक जीवन (ग्रामीण जीवन) के क्रिया-कलापों का महत्व अधिक होता है। इसलिए लोक जीवन की कलाओं को ‘लोक कलाएँ’ कहा जाता है। इन कलाओं का उद्भव लोक संस्कृति में होता है और इसी की सौधी महक वाली मिट्टी में ये कलाएँ पुरिपत- पल्लवित होती हैं। डॉ० गिरार्ज किशोर अग्रवाल ने लिखा है, “लोक कला लोक- सापेक्ष होती है उसमें निहित भावनाएं किसी एक व्यक्ति से सम्बन्धित न होकर समस्त समाज से सम्बन्धित होती है। ..... लोक कला के रूप दैनिक जीवन से पूर्णतः सम्बन्धित होते हैं।”<sup>2</sup> इन्हीं लोक कलाओं के अन्तर्गत ‘लोक चित्रकारी’ का अपना विशिष्ट स्थान है जो क्षेत्रीय वैविध्य के साथ सम्पूर्ण लोक में पावन परम्परा के रूप में चली आ रही है। इस चित्रकारी को प्रायः ग्रामीण महिलाएँ व बालिकाएँ अपने आस-पास सहज रूप से उपलब्ध सामग्री व रंग तथा चिकनी मिट्टी, पीली मिट्टी, गोबर, गेरू, खड़िया, महावर, रामरज, आटा, हल्दी, गुलाल, फूल-पत्ते आदि से घरों की साफ-सुथरी प्रायः गोबर अथवा पोतनी मिट्टी से लिपी-पुती दीवारों, दरवाजों व आँगन आदि स्थानों पर पूजा अथवा सजावट हेतु बनाती हैं। वस्तुतः लोक चित्रकारी की जीवनी भाक्ति लोक की स्त्रियों की सौन्दर्य व मंगल की भावना में निहित होती है।

लोक चित्रकारी का स्वरूप प्रतीकात्मक व सजावटी होता है। देवी-देवताओं के रूपाकार प्रतीकात्मक, सहज एवं सरल भौली में बनाये जाते हैं। भास्त्रीय स्वरूप से सर्वथा भिन्न देवी-देवताओं की एक लोक छवि क्षेत्रीय जनमानस में परम्परा से प्रचलित रहती है, उदाहरणार्थ बज प्रदेश के जनमानस में भगवान श्री कृष्ण की (भास्त्रीय छवि से पृथक) एक ग्वाले की छवि सदियों से प्रचलित है तथा इसी क्षेत्र में पूजा अनुष्ठानादि के अवसर पर पीली मिट्टी के एक अनगढ़ ढेले (टुकड़े) पर कलावा लपेटकर उसे भगवान गणेश का रूप मान लिया जाता है। लोक चित्रण के रूप लोक जीवन की वस्तुओं, स्त्री- पुरुषों, पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों, वनस्पति आदि को प्रतीकात्मक एवं सहज रूपों में व्यक्त करते हैं। उसकी रूप योजना प्रायः रेखात्मक होती है। ये सभी रूपाकार प्रायः परम्परा

द्वारा निर्धारित होते हैं। रूपाकार प्रायः दो प्रकार के होते हैं- 1. अनुष्ठानपरक रूपाकार 2. सजावटी अभिप्राय। अनुष्ठानपरक रूपाकार चित्रण के प्रधान अंग होते हैं। सजावटी अभिप्रायों का महत्व गौण होता है, किन्तु चित्रण में इनकी अधिकता होती है जो प्रायः सजावटी एवं सौन्दर्य वृद्धि के उद्देश्य से बनाये जाते हैं। सजावटी अभिप्रायों में पुनरावृत्तिमूलक गति होती है। इन्हीं अभिप्रायों से चित्र का बार्डर भी बनाया जाता है और आवश्यकतानुसार चित्र को पैनलों में इन्हीं की सहायता से विभाजित किया जाता है। डॉ० जूही भुक्ला (इलाहाबाद) ने इस संदर्भ में लिखा है, .....“अनुकरण (पुनरावृत्ति) ही सौन्दर्य का आधार है। उत्तर प्रदेश के ग्रामीण इलाकों में गोबर मिट्टी से लिपी-पुती दीवारों पर गेरू और चूने से बने चित्र एवं घर के भीतर विवाह आदि के अवसर पर बनाये जाने वाले कोहबर चित्रों में भी ऐसी अनुकरणात्मक (पुनरावृत्तिमूलक) प्रवृत्ति देखी जा सकती है, जो लोक जीवन और लोकाचार से गहरा साम्य रखती है।”<sup>3</sup>

भारतवर्ष में जन्म से लेकर मृत्योपरान्त तक के सभी अनुष्ठानों एवं संस्कारों में लोक चित्रकारी का बहुत महत्वपूर्ण स्थान रहता है यथा, चौक पूरना, स्वास्तिक आदि। ब्रज प्रदेश में प्रायः सभी अनुष्ठानों में चौक पूरना अवश्य किया जाता है जो प्रायः सूखे आटे या हल्दी से किया जाता है। अकेले उत्तर प्रदेश में अनगिनत अवसरों पर लोक चित्रकारी की जाती है। प्रभा पंवार (लखनऊ) ने लिखा है, “वैसे तो उत्तर प्रदेश में लगभग 128 व्रत-पर्व और त्यौहार मनाये जाते हैं, जिनमें भित्ति चित्र एवं भूमिचित्रण बनाये जाते हैं, लेकिन उनमें जो प्रमुख हैं वे हैं होली, बासंती नवरात्र, नागपंचमी, रामनवमी, रक्षाबन्धन, जन्माष्टमी, साँझी, महालक्ष्मी, गणेश चौथ, भारतीय नवरात्र, दुर्गा नवमी, दशहरा, करवाचौथ, अहोई अष्टमी, दीपावली, देव उठान, सकट चौथ, मकर संक्रान्ति, बंसत पंचमी, शिवरात्रि इत्यादि। लोक कलाएँ भारत की उत्सव प्रियता और सौन्दर्य प्रियता और सौन्दर्य दृष्टि का प्रमाण है।”<sup>4</sup> इसके अतिरिक्त लोक चित्रकारी विभिन्न तीज-त्यौहारों पूजा संस्कारों हेतु लोक मंगल की कामना, अनिष्ट से बचाव, भुभ कार्यों में विघ्न न आने के उद्देश्य से, कुल देवताओं एवं चराचर प्रकृति का आशीर्वाद प्राप्त करने हेतु रची जाती है, विवाहोत्सव के अवसर पर पूर्वी उत्तर प्रदेश में बनायी जाने वाली कोहबर और मायर चित्रकारी में लोक देवी-देवताओं के साथ-साथ सूर्य और चन्द्रमा तथा अपने परिवेश व वातावरण की अन्य वस्तुएँ, बाँस, पशुधन, तोता, सांप, बिच्छू, हाथी, मछली, डोली आदि इसी उद्देश्य से बनाए जाते हैं कि ये सभी वर-वधू को आशीर्वाद दें, विवाहोत्सव में भ्रामिल हों, किंतु इसमें कोई विघ्न न पैदा करें। पश्चिमी उत्तर प्रदेश की साँझी में बैंड पार्टी, चाट बेचने वाले आदि को बनाकर घर के व्यवसाय के फलने- फूलने की कामना की जाती है। उपरोक्त के साथ-साथ कहीं-कहीं कुछ रोचक रचनाएँ भी देखने को मिलती हैं- ब्रज प्रदेश में गोधन पूजा पर गोबर, कांस की सीक, कपास आदि से गोधन बनाया जाता है। उसमें गोबर के दरवाजे के प्रतीक के रूप में थोड़ा सा खुला स्थान छोड़ा जाता है। उसी स्थान पर गोबर से एक कुत्ता चौकीदार के रूप में इस आशय से बनाया जाता है कि रात्रि में घर के अंदर के पशुओं को कोई चुरा न ले जाए और कोई पशु बाहर न जाए। गोधन प्रायः घेर में जहाँ पशु बाँधे जाते हैं, वहीं बनाया जाता है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश की साँझी में कहीं चोर को पकड़े पुलिस वाला भी बना हुआ देखने को मिलता है। यहाँ इसका आशय यह होता है कि हमारे घर में चोर न घुसे।

उपरोक्त उद्देश्यों के अतिरिक्त लोक चित्रकारी ग्रामीण महिलाओं के सौन्दर्य भाव, साफ-सफाई व रचनात्मकता के प्रति उनके रुझान को भी प्रदर्शित करता है। ग्रामीण महिलाओं को खेत-खलियान, पशुओं की देखभाल एवं अन्य घरेलू कार्यों से भाहरी महिलाओं की तरह प्रतिदिन अवकाश नहीं मिल पाता है। उन्हें यह अवकाश, तीज-त्यौहारों व उत्सवों आदि के अवसरों पर मिलता है। इन अवसरों पर ये महिलाएँ दुगुने उत्साह से कार्य करती हैं। तब महिलाएँ गाती-बजाती, चहकती हुई पूरे घर की साफ-सफाई, लीपना- पोतना आदि करती हैं। अपने आप को भी बड़े स्नेह से सजाती सँवारती हैं। उनके इसी सौन्दर्य बोध की चरम परिणिति दीवारों, आँगन, दरवाजों आदि पर

लोक चित्रकारी के रूप में होती है। इस प्रकार लोक मंगल की कामना के साथ-साथ लोक चित्रकारी का महत्वपूर्ण उद्देश्य सजावट एवं ग्रामीणों के सौन्दर्यानुराग की अभिव्यक्ति भी है। ब्रज की साँझी के ज्यामितीय रंग-बिरंगे रूपाकार, पश्चिमी उत्तर प्रदेश की साँझी माई के विविध गहनों के अभिप्राय, पूर्वी उत्तर प्रदेश के कोहबर व मायर के सजावटी रूपकार व बार्डर के अभिप्राय, बिहार की मधुबनी कला में पुरइन (कमल) के पत्तों के सजावटी अभिप्राय, अनगिनत बार्डर के अभिप्राय, रिक्त स्थानों में बनाये गये विविध फूल पत्तों व पक्षियों के अभिप्राय आदि विशुद्ध रूप से सजावट एवं चित्रकारी में सौन्दर्य वृद्धि के उद्देश्य से बनाये जाते हैं।

लोक चित्रकारी का सौन्दर्यात्मक पक्ष अत्यन्त प्रबल होता है। यह लोक जीवन की सादगी और उसके सौन्दर्यबोध को जिस सरलता और भाद्रता के साथ अभिव्यक्त करती है, अभिव्यक्ति की इतनी सरलता और भाद्रता मात्र बाल कला में ही देखने को मिलती है। इसके रूपाकारों की सरलता एवं प्रतीकात्मक व सहज ढंग से भावाभिव्यक्ति तथा लोकमंगल की कामना का भाव इस चित्रकारी का सौन्दर्य है। “लोक कलाओं पर किसी प्रकार के बाह्य प्रभाव नहीं पड़ते। अतः ये कलाएँ अकृत्रिम बनी रहती हैं। अकृत्रिम होने से इनका सरल एवं हृदयग्राही रूप बिना किसी प्रलोभन के समाज में चलता रहता है। इनके सौन्दर्य का अवगाहन करने के लिए तर्क की नहीं हृदय की आवश्यकता है।”<sup>5</sup> चराचर सृष्टि के सभी रूपों को एवं लोक आस्था के केन्द्र- लोक देवी-देवताओं के आकारों इसमें को सजावटी व सरलीकृत ढंग से प्रस्तुत किया जाता है जो कि भाताब्दियों की पद यात्रा करते हुए परम्परा के रूप में आंशिक, आवश्यक एवं प्रासंगिक परिवर्तनों के साथ लोक व्यवहार में, उसकी आस्था के अभिन्न अंग के रूप में चले आ रहे हैं। इन रूपाकारों में आस्था के सौन्दर्य से पृथक अपना विशुद्ध सौन्दर्य भी विद्यमान रहता है। रूपाकार प्रायः ज्यामितीय आकारों से प्रेरित होते हैं और प्लेटो ने इन्हीं ज्यामितीय रूपों को परम सुन्दर माना है। उनके अनुसार वर्ग, त्रिभुज और वृत्त आदि ज्यामितीय रूपों में उपयोगिता से भिन्न निजी और विशुद्ध सौन्दर्य विद्यमान है जो सृष्टि के समस्त रूपों के सौन्दर्य का हेतु अथवा कारक है। सृष्टि अथवा कला के जो रूप इन विशुद्ध ज्यामितीय रूपों के जितने अधिक निकट होते हैं अथवा उन रूपों में जितनी अधिक ज्यामितीय भाद्रता रहती है, वे उतने ही सुन्दर होते हैं। अतः स्पष्ट है कि लोक चित्रकारी के रूपों का नन्दतिक पक्ष अत्यन्त प्रबल होता है। साथ ही चित्रकारी के उपरान्त होने वाले पूजा- संस्कारों की अपनी विशिष्ट पद्धति, धूप-कपूर आदि की सुगंध, मंत्रोच्चार, साथ में गाये जाने वाले मंगलगीत आदि का आनन्द भी अनुपम और विरला ही होता है जो लोक चित्रकारी की प्रबल सौन्दर्यात्मकता को ही पुष्ट करता है।

लोक चित्रकारी का हस्तान्तरण पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक एवं व्यावहारिक रूप में किया जाता रहा है। परिवार व समाज की बहू-बेटियाँ अपनी माताओं एवं वृद्ध महिलाओं से यह कला विरासत के रूप में ग्रहण करती हैं। बहू-बेटियाँ विवाहोपरांत जब भिन्न कला परम्परा के क्षेत्र में जाती हैं अथवा पृथक कला परम्परा के क्षेत्र से आती हैं तो साथ लायी गयी चित्रकारी परम्परा को नये स्थान पर व्यवहारित करती हैं। इस प्रकार भिन्न क्षेत्रों में प्रचलित लोक चित्रकारी की परम्पराओं में परस्पर आदान-प्रदान भी होता है और एक कला परम्परा के तत्व दूसरी कला परम्परा में स्थानान्तरित और घुलते- मिलते रहते हैं।

लोक चित्रकारी में क्षेत्रीयता का तत्व अधिक मुखर रहता है। इसी तत्व के कारण लोक कलाओं में क्षेत्रीय वैविध्य पाया जाता है। अलग-अलग क्षेत्रों की लोक चित्रकारी रूप योजना, सजावटी अभिप्राय, रचना सामग्री, रचना पद्धति, पूजा अनुष्ठान-पद्धति आदि के आधार पर परस्पर भिन्नता लिए हुए होती है, तथापि चित्रकारी का उद्देश्य सभी स्थानों पर प्रायः समान ही रहता है। मुख्य देवी अथवा देवता के अतिरिक्त किसी क्षेत्र की लोक चित्रकारी में उन निर्जीव व सजीव वस्तुओं के रूपाकारों का अंकन प्रमुखता से किया जाता है जो वहाँ के परिवेश में प्रमुखता से पाये जाते हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश की कोहबर चित्रकारी, बिहार की मधुबनी चित्रकारी में पुरइन के

पत्ते, बाँस के झाड़ू लोंग, इलायची के फूल पत्ते, मछली, केकड़ा, हाथी आदि का अंकन वहाँ का क्षेत्रीय तत्व है। ब्रज प्रदेश एवं पश्चिमी उत्तर प्रदेश की चित्रकारी (साँझी) में कृष्ण, गाय व बछड़ा, ग्वाले आदि तथा महाराष्ट्र की वर्ली चित्रकारी में मछुआरों, समुद्र व नाव आदि का अंकन क्षेत्रीयता का ही अंकन हैं।

#### संदर्भ सूची

1. डॉ० भयाम बिहारी अग्रवाल- सम्पादक, कला त्रैमासिक, जनवरी से मार्च 2002, प्रकाशक- राज्य ललित कला अकादमी उ०प्र० पे०-3
2. डॉ० गिराज किशोर अग्रवाल, कला निबन्ध- 1989, ललित कला प्रकाशन, अलीगढ़ पे० 169-170
3. डॉ० भयाम बिहारी अग्रवाल- सम्पादक, कला त्रैमासिक, जनवरी से मार्च 2002, प्रकाशक- राज्य ललित कला अकादमी उ०प्र०, पे०-44
4. डॉ० भयाम बिहारी अग्रवाल- सम्पादक, कला त्रैमासिक, जनवरी से मार्च 2002, प्रकाशक- राज्य ललित कला अकादमी उ०प्र० पे०-6
5. डॉ० गिराज किशोर अग्रवाल, कला निबन्ध 1989 ललित कला प्रकाशन, अलीगढ़, पे० 171